THE TIMES OF INDIA

Date: 05-11-26

What Undid Don…

…offers lessons for all democracies

TOI Editorials

Nobody expected Democrats to win the midterms so dramatically. Even Trump's admitted he's "a little bit surprised". The rest of the democratic world, India included, should pay a lot of attention. Why? Five reasons.

Cost of living, not GDP & markets | America gave Trump a second chance in 2024 not because many were sold on MAGA, but to fix the economy. Specifically, to address ordinary people's cost-of-living crisis. Now, US GDP has grown well in these two years, stock markets have produced $5tn companies and world's first trillionaire, but Trump's policies – first tariffs, then Iran war – have made everything costlier. So much so that US Fed has been forced to hike rates after three years. The message is clear: you can't sweet-talk voters out of economic misery. GDP growth matters only when it's felt at the per capita level. Otherwise, people think it's just the rich getting richer, and they will punish you for that.

To get out the vote, ideology isn't enough | Trump built a whole MAGA cult around him, but at half-time of his presidency, some of it is depleted, and some dispirited. That's why, on Tuesday, many of his 2024 supporters voted for Democrat candidates, and many others didn't vote. Numbers suggest the usual midterm dip in turnout didn't happen for Democrats. Women, Blacks and Hispanics voted overwhelmingly for them. So did young people, who earn less, therefore worry more about price-rise. Farmers, who had rooted for Trump in 2024, are less enthusiastic now when China isn't buying enough of their corn and soy amid tariff tensions. Clearly, ideology takes a back seat when voters are dissatisfied with their finances.

Don't keep making it ugly | Trump's promise to deport undocumented immigrants had resonated with voters in 2024, because people felt their jobs were being stolen. But his administration's methods didn't. Polls done after ICE officers shot and killed Renee Good in Jan this year showed the majority felt things had gone too far. Other polls have found that Americans are concerned about corruption and feel US democracy is in a crisis. Trump's weaponisation of the justice department, for instance, didn't boost their confidence. An AP poll on Tuesday showed 63% of Americans consider the Iran war – one of Trump's ugliest foreign policy actions – a mistake, while for 74% it was a crucial factor in the midterms.

Voters can cool off on what powers AI | US has more data centres than the rest of the world, and because they consume so much water and energy – making these scarce and costlier for ordinary people – they are extremely unpopular. They also became a significant poll issue, which Trump dismissed as "a sick conspiracy". This kind of tone-deafness can cost votes. Democrats' anti-data centre stance in Texas and Georgia – both Red states – helped them win governorships this time.

Super-rich backers can cost votes | US midterms also show politicians should be mindful of the company they keep, because when the income divide is getting deeper, endorsement by billionaires can be counterproductive. Republicans, openly bankrolled by people like Musk, had their poll finances figured out, but clearly it left the wrong impression on the electorate.

After this drubbing, Trump should not make matters worse for his party and the world. India will hope he ends the Iran war soon, and maintains status quo on other things, like the Russian oil tariff. Don't bet on it, though. Trump can do anything.

दैनिक भास्कर

Date: 05-11-26

17 वर्षों के बाद भी 'आधार' भरोसेमंद क्यों नहीं हुआ है?

संपादकीय

केंद्रीय पंचायती राज मंत्री ने एक समारोह में कहा कि अब से लाभार्थियों को लाभ पहुंचाने के लिए पहचान का तरीका आधार कार्ड नहीं, वोटर आईडी कार्ड और बायोमेट्रिक होगा, क्योंकि 'आधार बनाने वाले गली-कूचे में उपलब्ध हैं!' अभी यह नहीं पता चला है कि नई प्रक्रिया कब से लागू होगी और क्या केंद्र के बाकी मंत्रालय भी इसे लागू करेंगे। यह भी स्पष्ट नहीं हो सका है कि केवल मतदाता की पहचान से विविध लाभार्थी वर्ग के लोगों को लाभ कैसे दिया जा सकेगा। वोटर आईडी में न तो जाति का उल्लेख होता है, ना ही परिजनों की संख्या होती है। अभी तक आधार कार्ड योजना में 15-20 हजार करोड़ रुपये खर्च हो चुके हैं। अनुमान है कि वोटर आईडी बनाने और उसे बायोमेट्रिक से इंटीग्रेट करने में करीब 10-15 हजार करोड़ रुपये और लगेंगे। इस डिजिटल दौर में पिछले 17 साल से जारी आधार प्रक्रिया (यूआईडीएआई) और हजारों करोड़ खर्चने के बाद भी किसी नागरिक की पहचान का भरोसेमंद दस्तावेज नहीं बन सका है। अगर गली-कूचे में फर्जी आधार बन रहे हैं तो इसकी क्या गारंटी है कि वोटर आईडी नहीं बनेंगे? कैसे सुनिश्चित होगा कि सुदूर गांवों में लाभार्थी जब लाभ लेने जाएगा तो उसके बायोमेट्रिक सत्यापन के लिए नेट उपलब्ध होगा? अगर कोई प्रक्रिया दोषपूर्ण है तो उसे सुधारा जाता है, न कि उसकी जगह सर्वथा नई और खर्चीली व्यवस्था लाई जाती है। याद रखें कि वोटर आईडी एक खास उद्देश्य से बनाया जाता है, जबकि आधार पहचान का मूल दस्तावेज है।

Date: 05-11-26

बार-बार क्यों उठ खड़ा होता है "विदेशी हाथ' का सवाल ?

राजदीप सरदेसाई

संघ प्रमुख मोहन भागवत अपने शब्दों का इस्तेमाल बेहद नाप-तौल कर करते हैं। उनकी बातें अहमियत भी रखती हैं। हाल ही में भागवत ने सरकारों को अस्थिर करने वाली खतरनाक "वैश्विक साजिश' की बात कही थी। उनका संकेत था कि फ्रांस, अल्बानिया, बांग्लादेश, नेपाल की तरह भारत पर भी निशाना साधा जा सकता है। लेकिन भारत न तो फ्रांस है, न नेपाल, और न ही बांग्लादेश। हर समाज की अपनी राजनीतिक परिस्थितियां, अंदरूनी तनाव और विरोध-प्रदर्शनों के तात्कालिक कारण होते हैं।

ऐसे में एक देश में हुए प्रदर्शनों की छवियों को उठाकर दूसरे देश पर आरोपित नहीं किया जा सकता, कम से कम भारत जैसे विशाल और विविधतापूर्ण देश पर तो कतई नहीं। ऐसे में यह कह देना कि अलग-अलग देशों में हो रहे विरोध-प्रदर्शन एक ही साझा विदेशी साजिश का सबूत हैं, ठीक नहीं माना जा सकता।

वैसे "विदेशी हाथ' का तर्क भारतीय राजनीति के लिए नया नहीं है। यह उन सरकारों का चिर-परिचित सहारा है, जिन्हें देश की असहज हकीकतों का सामना करने के बजाय बाहरी ताकतों पर दोष मढ़ना आसान लगता है। 1970 के दशक में इंदिरा गांधी के शासनकाल को याद कीजिए, जब जनांदोलनों और राजनीतिक विरोध को अकसर विदेशी हस्तक्षेप के चश्मे से देखा जाता था।

सीआईए की साजिश का हवाला देकर बताया जाता था कि देश के सामने कैसी चुनौतियां खड़ी की जा रही हैं। विडम्बना यह है कि उस समय संघ को भी संदेह से देखा जाता था। यह पूछने के बजाय कि लोग सरकार के खिलाफ क्यों हो रहे हैं, विदेश में शत्रुओं को तलाशना ज्यादा सरल रहा है।

2026 में लौटें तो चंद ही महीने पहले सरकार के प्रतिनिधि पेपर-लीक मसले पर कॉकरोच जनता पार्टी से बातचीत कर रहे थे। आज उसी जेन-जी नेतृत्व वाले विरोध-आंदोलन को संदिग्ध विदेशी साजिश के चश्मे से देखा जा रहा है। ऐसा क्या बदल गया? क्या विदेशी फंडिंग के कोई सबूत सामने आए हैं? या "विदेशी हाथ' वाला सिद्धांत ही इतना सुविधाजनक है कि उससे खुद को बचा पाना मुश्किल होता है?

ऐसी ही शंका नियमित तौर पर राहुल गांधी के क्रियाकलापों को लेकर भी जताई जाती रहती है। उनकी कोई निजी विदेश यात्रा भी अकसर ऐसे परोक्ष आक्षेपों का सिलसिला शुरू कर देती है कि वे परदे के पीछे राष्ट्र के खिलाफ साजिश रच रहे हैं।

ये संकेत सबूतों की जवाबदेही का बोझ उठाए बिना ही किसी को भी आरोपित कर देने में कारगर होते हैं। इससे विपक्ष की राजनीति स्वतः ही संदेहास्पद बन जाती है और व्यवस्था को चुनौती देने वाले किसी भी व्यक्ति को विदेशी ताकतों का एजेंट जैसा दिखाया जा सकता है।

अगर विपक्षी नेता, छात्र-कार्यकर्ता और प्रदर्शनकारी विदेश से वित्त-पोषित किसी साजिश का हिस्सा हैं तो इसे साबित किया जाना चाहिए। हमारे पास शक्तिशाली जांच और खुफिया एजेंसियां हैं। अगर देश को अस्थिर करने के सुनियोजित प्रयास या अवैध विदेशी फंडिंग के विश्वसनीय सबूत हैं तो एजेंसियों को जांच करनी चाहिए। कानून के मुताबिक कार्रवाई करनी चाहिए। लेकिन वैसे सबूत आखिर हैं कहां पर?

ऐसा नहीं है कि विदेशी दखल जैसी कोई चीज होती ही नहीं है। भारत समेत कई देशों को अतीत तें वास्तविक बाहरी दबावों का सामना करना पड़ता रहा है। लेकिन किसी स्पष्ट विदेशी षड्यंत्र की पहचान करने और नागरिकों के सड़कों पर उतर आने को वैश्विक साजिश का हवाला देने में अंतर है। बेरोजगारी, परीक्षा में अनियमितताओं, भ्रष्टाचार या संस्थाओं की स्वतंत्रता कमजोर पड़ने की आशंका पर नाराज होने के लिए जनता को विदेशी प्रायोजकों की जरूरत नहीं है।

युवाओं को अपने भविष्य के प्रति चिंतित होने के लिए विदेशों से किसी के निर्देश की दरकार नहीं होती। और न ही कई राजनीतिक असंतोष महज इसलिए अवैध हो जाता है, क्योंकि वह सड़क पर जाहिर हो रहा है। बड़ा खतरा यह है कि "विदेशी हाथ' की कहानी का इस्तेमाल शांतिपूर्ण असहमति को अवैध ठहराने और दमन को उचित ठहराने के लिए किया जा सकता है। लोकतंत्र में गैरकानूनी गतिविधियों और वैध विरोध-प्रदर्शन के बीच अंतर करना जरूरी है।

दैनिक जागरण

Date: 05-11-26

कठिन हुई ट्रंप की राह

हर्ष वी. पंत, (लेखक अंतरराष्ट्रीय मामलों के विशेषज्ञ हैं)



अमेरिकी मध्यावधि चुनावों में राष्ट्रपति डोनल्ड ट्रंप को जोरदार झटका लगा। उनकी प्रतिद्वंद्वी डेमोक्रेटिक पार्टी अमेरिकी संसद यानी कांग्रेस के दोनों सदनों-प्रतिनिधि सभा एवं सीनेट में बहुमत के पड़ाव पर पहुंच गई है। चुनाव परिणाम ट्रंप प्रशासन को पारंपरिक आईना दिखाने से अधिक कड़ी फटकार लगाने जैसे हैं। इन नतीजों की गूंज कहीं गहरे संदेश समाहित किए हुए है। ट्रंप की मनमानी टैरिफ नीतियों से बढ़ी महंगाई से जीवन-यापन की लागत में बढ़ोतरी से आम अमेरिकी त्रस्त हो गए थे। ईरान के साथ युद्ध भी घरेलू बेचैनी को बढ़ाने वाला साबित हुआ। मध्यावधि चुनाव में लगे झटके के बाद ट्रंप को अपने शेष कार्यकाल के लिए नए सिरे से रणनीति तैयार करनी होगी, क्योंकि अब उनकी राजनीतिक चुनौतियों का बढ़ना तय है।

अमेरिकी संसद पर डेमोक्रेट का नियंत्रण ट्रंप के घरेलू एजेंडे की डोर को कमजोर करेगा। इससे कराधान, सरकारी खर्च की अनुमति पर तकरार से लेकर विधायी कदमों पर टकराव बढ़ने के आसार बनेंगे। हालांकि ट्रंप के पास टैरिफ, स्वास्थ्य सेवा और आव्रजन संबंधी अपनी नीतियों के मामले में कार्यकारी अधिकारों एवं वीटो की शक्ति होगी, लेकिन संस्थागत द्वंद्व बढ़ने की स्थिति में राष्ट्रपति को किसी ठोस विधायी व्यवस्था के बजाय अस्थायी वित्तीय प्रविधानों से ही काम चलाना पड़ेगा। ट्रंप प्रशासन के लिए संसदीय कसौटियां भी सख्त होंगी, जिसमें कार्यकारी शक्तियों के दुरुपयोग, नैतिक सरोकारों और विदेशी व्यावसायिक हितों पर बारीक नजर रखी जाएगी, जबकि सीनेट में डेमोक्रेटिक बहुमत न्यायिक और कैबिनेट स्तर की नियुक्तियों की राह और जटिल बनाएगा। अपने शेष कार्यकाल में ट्रंप को अपनी प्राथमिकताओं को आगे बढ़ाने के बजाय अपने तमाम फैसलों के बचाव में ही अपनी अधिकांश राजनीतिक पूंजी झोंकनी होगी।

इतिहास साक्षी है कि जब भी अमेरिकी राष्ट्रपतियों को घरेलू मोर्चे पर विधायी विरोध के चलते कुछ मुश्किलों का सामना करना पड़ा तो उन्होंने विदेश नीति में अधिक रणनीतिक गुंजाइश तलाशने की कोशिश की है, क्योंकि इस मोर्चे पर उनकी कार्यकारी शक्तियां कहीं व्यापक होती हैं। ट्रंप भी इसी राह पर बढ़ सकते हैं, लेकिन ईरान से संघर्ष और पश्चिम एशिया की अस्थिरता उनकी विदेश नीति को भी मुकाबले का एक नया अखाड़ा बना सकती है। संसद पर डेमोक्रेटिक नियंत्रण के चलते सैन्य अभियानों, उनके वित्तीय बोझ और सामरिक उद्देश्यों की कहीं अधिक सख्त निगरानी के आसार बढ़ेंगे। इसके अलावा मुद्रास्फीति की चिंताओं के बीच टैरिफ से जुड़ी शक्तियों के एकतरफा इस्तेमाल पर भी ट्रंप प्रशासन को कड़ी चुनौती मिलेगी।

अमेरिका के सहयोगियों से लेकर प्रतिद्वंद्वियों तक के लिए मध्यावधि चुनावों के परिणाम मायने रखते हैं। बदले राजनीतिक परिदृश्य में अमेरिकी नीति-निर्माण में अस्थिरता गहराने का अंदेशा है। कार्यकारी शक्ति के रूप में ट्रंप प्रशासन के पास विदेश मामलों पर निर्णय के विशेषाधिकार तो कायम रहेंगे, लेकिन संसदीय गतिरोध से उनका प्रभाव अवश्य प्रभावित होगा। अमेरिका के विरोधी देश इसका लाभ उठाने की गुंजाइश तलाशेंगे। खास तौर से वैश्विक ऊर्जा बाजार के लिए यह स्थिति और संवेदनशील होगी, जहां ईरान संघर्ष, प्रतिबंधों की नीति और सैन्य भागीदारी पर संसद की कड़ी निगरानी का मिलाजुला असर कच्चे तेल की कीमतों में अस्थिरता बढ़ा सकता है, जिसका व्यापक प्रभाव वैश्विक मुद्रास्फीति पर पड़ेगा। यूरोपीय सहयोगियों के साथ ही हिंद-प्रशांत क्षेत्र के सहयोगी देशों के लिए डेमोक्रेट्स की बढ़ी शक्ति संवाद का एक वैकल्पिक माध्यम और अमेरिकी सुरक्षा में एकतरफा कटौती के सापेक्ष कुछ हद तक भरोसा प्रदान कर सकती है, फिर भी अपने सुरक्षा दायित्वों का बोझ सहयोगी देशों को मुख्य रूप से स्वयं ही उठाना पड़ेगा।

भारत के लिए भी अमेरिकी मध्यावधि चुनावों के नतीजे गहरे अर्थ लिए हुए हैं। भले ही दोनों देशों की व्यापक रणनीतिक साझेदारी एक बड़ी हद तक हिंद-प्रशांत क्षेत्र में सहयोग पर टिकी हो, लेकिन वाशिंगटन में बदले राजनीतिक समीकरण विशेष नीतिगत क्षेत्रों में नए अवसर बना सकते हैं। इसी के साथ जहां डेमोक्रेटिक पार्टी की जीत व्यापार वार्ताओं की राह को और जटिल बना सकती है, वहीं घरेलू राजनीतिक आलोचनाओं से निपटने के उद्देश्य से ट्रंप ठोस आर्थिक परिणाम दिखाने के लिए व्यापार समझौते को तेजी से आगे बढ़ाने का प्रयास कर सकते हैं।

एकतरफा टैरिफ को लेकर संसद की निगरानी भी नई दिल्ली के लिए सौदेबाजी की ताकत बढ़ाएगी, विशेष रूप से उन क्षेत्रों में, जहां अमेरिकी बाजार तक पहुंच व्यावसायिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसके बाद भी यह मानकर नहीं चलना चाहिए कि संसद पर डेमोक्रेटिक नियंत्रण से अमेरिकी व्यापार नीतियां स्वाभाविक रूप से भारत के प्रति लचीली हो जाएंगी। वर्तमान में बाजार तक पहुंच, घरेलू उद्योग संरक्षण और व्यापार असंतुलन से जुड़े मुद्दे केवल रिपब्लिकन पार्टी

तक सीमित नहीं रह गए हैं। आव्रजन भी एक ऐसा क्षेत्र है, जहां संसद में बदला हुआ शक्ति-संतुलन भारत के लिए काफी मायने रख सकता है। रूसी कच्चे तेल की निरंतर खरीद का मुद्दा भी द्विपक्षीय संबंधों में तनाव और मतभेद का एक पहलू बना रहेगा।

मध्यावधि चुनावों ने ट्रंप के शेष कार्यकाल में राजनीतिक अनिश्चितता बढ़ाने का काम किया है। विधायी प्रतिरोध उनके घरेलू एजेंडे को सीमित करने के साथ विदेश नीति से जुड़े उनके लक्ष्यों की पूर्ति को जटिल बना सकते हैं। यह जनादेश हिंद-प्रशांत क्षेत्र को लेकर अमेरिकी विदेश नीति पर दोनों दलों के नजरिये की बुनियाद को बदले बिना ट्रंप की अतिशय महत्वाकांक्षाओं पर अंकुश लगा सकता है। बदले हालात में नई दिल्ली को व्हाइट हाउस के साथ-साथ नए सिरे से आकार लेने वाली अमेरिकी संसद, दोनों के साथ प्रभावी तालमेल बिठाना पड़ेगा, ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि द्विपक्षीय रणनीतिक साझेदारी वाशिंगटन की घरेलू राजनीतिक उथल-पुथल के असर से अप्रभावित रहे।

जनसत्ता

Date: 05-11-26

सुरक्षा का दायित्व

संपादकीय

दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में जारी युद्ध और क्षेत्रीय संघों ने अंतरराष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा के सामने गंभीर चुनौती खड़ी कर दी है। पश्चिम एशिया में लगातार बढ़ता तनाव हो या रूस - यूक्रेन युद्ध, इनका असर केवल संबंधित देशों तक सीमित नहीं है, बल्कि वैश्विक समुदाय भी इनसे प्रभावित हो रहा है। इन संघर्षों के बीच सबसे चिंताजनक स्थिति दूसरे देशों के उन आम नागरिकों की है, जिनका युद्ध से कोई लेना-देना नहीं है, लेकिन उनकी जान पर जोखिम बढ़ता जा रहा है। ऐसे में कारोबार, शिक्षा और अन्य कारणों से विदेश में रह रहे भारतीय नागरिकों की सुरक्षा को लेकर भी सवाल उठ रहे हैं। संघर्ष वाले इलाकों में हो रहे हमलों में भारतीयों की जान जाने का सिलसिला लगातार जारी है। इसी क्रम में ओमान तट के पास बीते सोमवार शाम को वाणिज्यिक पोत पर हुए हमले में एक और भारतीय नाविक की मौत हो गई। सवाल है कि विदेश में भारतीय नागरिकों की सुरक्षा की जिम्मेदारी आखिर किसकी है? क्या विदेश मंत्रालय की ओर से इस तरह के हमलों की केवल निंदा कर देना काफी है? गौरतलब है कि पश्चिम एशिया भारत के लिए रणनीतिक, आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस क्षेत्र के विभिन्न देशों में लाखों भारतीय नागरिक काम करते हैं। वे न केवल वहां की अर्थव्यवस्था में योगदान देते हैं, बल्कि अपनी कमाई का एक बड़ा हिस्सा भारत में अपने परिवारों को भेजते हैं। इससे देश को विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है, जो राष्ट्र की आर्थिक स्थिति को मजबूती देती है मगर जब से इस क्षेत्र में सैन्य संघर्ष शुरू हुआ है, तब से भारतीय नागरिकों की सुरक्षा को लेकर चिंता बढ़ गई है। इस क्षेत्र में संघर्ष शुरू होने के बाद से विभिन्न हमलों में अब तक कुल तेईस भारतीय नागरिकों की जान जा चुकी है, जिनमें पंद्रह भारतीय नाविक भी शामिल हैं। यह स्थिति केवल पश्चिम एशिया तक सीमित नहीं है। रूस और यूक्रेन के बीच जारी युद्ध का प्रभाव भी भारतीय नागरिकों के लिए खतरा बना हुआ है। आधिकारिक जानकारी के मुताबिक, काला सागर क्षेत्र में हुए हमलों में अब तक पांच भारतीयों की मौत हो चुकी है। युद्ध के दौरान किसी देश के आम नागरिकों को जानबूझकर

निशाना बनाना अंतरराष्ट्रीय कानूनों के खिलाफ है और इस तरह की हिंसा को किसी भी स्थिति में उचित नहीं ठहराया जा सकता।

भारत की विदेश नीति परंपरागत रूप से शांति, संवाद और कूटनीति को प्राथमिकता देने की ही रही है, लेकिन इसके साथ ही अपने नागरिकों की सुरक्षा के मामले में दृढ रुख अपनाना भी आवश्यक है। यदि किसी संघर्ष में भारतीय नागरिकों को निशाना बनाया जाता है या उनकी सुरक्षा को लेकर खतरा पैदा होता है, तो भारत को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर इसका कड़ा विरोध दर्ज कराने से पीछे नहीं हटना चाहिए। यह सुनिश्चित करना जरूरी है कि विदेश में रह रहे भारतीय नागरिकों के मूलभूत अधिकार सुरक्षित रहें। संयुक्त राष्ट्र सहित विभिन्न अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं में भारत को यह स्पष्ट करना चाहिए कि उसके नागरिकों पर हमले या उनके जीवन को खतरे में डालना किसी भी सूरत में स्वीकार्य नहीं हो सकता। साथ ही संबंधित देशों की सरकारों से राजनयिक स्तर पर संवाद स्थापित कर भारतीय नागरिकों की सुरक्षा के लिए ठोस आश्वासन प्राप्त किए जाने चाहिए विदेश में रहने वाले भारतीयों का जीवन सुरक्षित रखना केवल सरकार की कूटनीतिक जिम्मेदारी ही नहीं, बल्कि राष्ट्रीय दायित्व भी है।

Live हिन्दुस्तान.com

Date: 05-11-26

दो संतान से आगे

संपादकीय



सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 'दो संतान नीति' को अप्रासंगिक बताना एक बड़े नीतिगत बदलाव की ओर बढ़ने का संकेत है। बुधवार को देश के सर्वोच्च न्यायालय ने एक सुनवाई के दौरान कह दिया कि पिछले दशकों में भारत की जनसांख्यिकी में अहम बदलाव हुए हैं, इसलिए दो से अधिक बच्चों वाले लोगों को चुनाव लड़ने से अयोग्य ठहराने वाले कानून प्रासंगिक नहीं रह गए हैं। यह तथ्य न्यायालय के संज्ञान में है कि भारत की कुल प्रजनन दर गिर गई है। साल 2003 में प्रजनन दर 3 थी। मतलब, भारत में प्रति युगल तीन या उससे अधिक बच्चे पैदा कर रहे थे। परिवार नियोजन को लगातार बढ़ावा देने की वजह से अब प्रजनन दर घटकर 1.9 हो गई है। मतलब, अब प्रति युगल दो से कम बच्चे पैदा हो रहे हैं। यह माना जाता है कि प्रजनन दर जब 2.1 से नीचे आ जाए, तब आबादी घटने लगती है। भारत में भी आबादी गिरावट की दिशा में बढ़ चली है और इस पर न्यायालय के विचार स्वागतयोग्य हैं।

सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष महाराष्ट्र के काकोड़ा ग्राम पंचायत की पूर्व सरपंच मंगला भीमराव का मामला आया था जब मंगला के तीन बच्चे हुए, तब उन्हें चुनाव लड़ने के अयोग्य करार दिया गया। अब सर्वोच्च न्यायालय ने मंगला की

अयोग्यता का आदेश रद्द कर दिया है। यही नहीं, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति पीएस नरसिम्हा व न्यायमूर्ति आलोक आराधे की पीठ ने इस मामले को एक उच्च पीठ के पास भेज दिया है। ध्यान रहे, साल 2003 में हरियाणा उच्च न्यायालय ने दो से ज्यादा संतान पैदा करने वालों को चुनाव लड़ने से वंचित करने के पक्ष में फैसला दिया था। अब इस फैसले पर सर्वोच्च न्यायालय में व्यापक पुनर्विचार होगा। फिलहाल, न्यायालय ने दो से अधिक संतान होने पर एक तरह से दंडित करने वाले कानूनों के अनुचित होने की ओर इशारा किया है। अब जनसंख्या वृद्धि को रोकने के उद्देश्य से बनाए गए कानूनों पर विधिवत पुनर्विचार होना तय हैं। कोई भी समाज या देश यह नहीं चाहेगा कि कामकाजी आबादी घट जाए और बुजुर्गों की आबादी बढ़ जाए। समग्र समाधान की जरूरत है और आने वाले दिनों में भारत में परिवार नियोजन किसी तरह के सार्वजनिक भेदभाव का माध्यम नहीं रह जाएगा।

दो से अधिक बच्चे होने पर किसी को दंडित करना उसे अनेक अधिकारों से वंचित करने के समान है। इससे संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत प्रजनन स्वायत्तता के अधिकार का भी उल्लंघन होता है। वैसे, हम समय-समय पर दो बच्चे वाली नीति का विरोध सुनते रहे हैं और अनेक राज्यों ने इस नीति से पहले ही कदम पीछे खींच लिए हैं। ऐसे 15 राज्य हैं, जहां ऐसी कोई नीति लागू नहीं है। विशेष रूप से दक्षिण भारत के राज्य घटती आबादी को लेकर चिंतित हैं और ज्यादा बच्चे पैदा करने वालों को दंडित करना तो दूर, प्रोत्साहित करने लगे हैं। ज्यादा दिन नहीं हुए हैं, हमने आंध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री चंद्रबाबू नायडू को 'हम दो हमारे 'दो' की नीति को पूरी घोषणा के साथ छोड़ते देखा है। आंध्र सरकार दूसरे बच्चे पर 25 हजार, तीसरे पर 30 हजार और चौथे बच्चे पर 40 हजार रुपये दे रही है। साल भर के मातृत्व अवकाश और दो महीने के पितृत्व अवकाश देने का इरादा है। प्रोत्साहन की इसी कड़ी में न्यायालय की ताजा टिप्पणी को देखना चाहिए। भविष्य की चिंता बढ़े, पर परिवार नियोजन का अनुशासन और नागरिक गुणवत्ता भी बढ़े। सबसे ज्यादा आबादी वाले देश की तमाम सरकारों को जनसंख्या संतुलन के साथ सुविधाएं बढ़ाने पर ज्यादा ध्यान देना चाहिए।

Date: 05-11-26

अमेरिकी चुनावों का साफ संदेश

अरुण सिंह, (पूर्व राजदूत, अमेरिका)

अमेरिकी मध्यावधि चुनावों में रिपब्लिकन पार्टी की बड़ी हार अप्रत्याशित है। निस्संदेह, चुनाव-पूर्व ऐसे संकेत मिल रहे थे, जिनसे यह अनुमान लगाया जा रहा था कि मतदाताओं का झुकाव डेमोक्रेटिक पार्टी के पक्ष में है, पर इतनी बड़ी संख्या में लोग उसका साथ देंगे, यह शायद ही किसी ने सोचा था। अतीत में कई बार ऐसा हो चुका है, जब चुनाव-पूर्वानुमान डेमोक्रेटिक के पक्ष में था, लेकिन सीटें रिपब्लिकन के खाते में आईं।

जाहिर है, यह राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप की नीतियों को नकारना है। खासकर, बीते दो वर्षों में उन्होंने जो फैसले किए हैं, उनसे न सिर्फ वैश्विक राजनीति, बल्कि घरेलू सियासत भी काफी प्रभावित हुई है। हालांकि, कांग्रेस (संसद) के निचले और ऊपरी, दोनों सदनों पर अब डेमोक्रेटिक पार्टी का कब्जा हो गया है, पर विदेश नीति में राष्ट्रपति ट्रंप का दबदबा पूर्ववत कायम रहेगा, लिहाजा विश्व राजनीति और खासकर भारत-अमेरिका संबंधों पर इन चुनाव नतीजों का कोई बड़ा असर शायद ही पड़े।

तो, बदलेगा क्या? दरअसल, अमेरिका अब यदि कोई संधि (ट्रीटी) करेगा, जो अंतरराष्ट्रीय कानूनों के तहत बाध्यकारी, औपचारिक और लिखित हो, उस पर 'कांग्रेस' (अमेरिकी संसद) की सहमति अनिवार्य हो जाएगी, लेकिन अन्य समझौतों (एग्रीमेंट) या सहमति-पत्रों के लिए ऐसी कोई बाध्यता नहीं रहेगी। इसीलिए, भारत के साथ व्यापार समझौते के मामले में राष्ट्रपति ट्रंप अपनी राह पर आगे बढ़ते रहेंगे, क्योंकि इस पर कांग्रेस की रजामंदी आवश्यक नहीं है।

कुछ यही स्थिति अब संघर्षों की भी होगी, जिनमें अमेरिका मुब्तिला है। भले ही यह दावा किया जाता हो कि यदि कोई भी सैन्य संघर्ष 60 दिनों से ज्यादा समय से चल रहा है, तो उस पर कांग्रेस की मुहर आवश्यक मानी जाती है, लेकिन इस पर जानकारों की बंटी हुई राय है। इसका अर्थ है कि राष्ट्रपति ट्रंप के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वह ईरान युद्ध अथवा यूक्रेन संघर्ष के संदर्भ में अपनी नीतियों पर कांग्रेस की सहमति हासिल करें।

जाहिर है, विदेश नीति पर कांग्रेस तकनीकी रूप से राष्ट्रपति ट्रंप को नहीं रोक सकेगी। हां, चूंकि बजट उसके अधिकार-क्षेत्र का विषय है, तो वह इसमें कतर-ब्योंत करके राष्ट्रपति की नीतियों पर अंकुश लगाने का प्रयास कर सकती है। हालांकि, इसमें वह कितनी सफल होगी, इसका फिलहाल आकलन नहीं किया जा सकता, क्योंकि अतीत के उदाहरण बताते हैं कि व्हाइट हाउस और कांग्रेस में अलग-अलग दलों का दबदबा रहने पर राष्ट्रपति 'राष्ट्रीय रक्षा प्राधिकरण अधिनियम' (नेशनल डिफेंस ऑथराइजेशन ऐक्ट) के माध्यम से जरूरी संसाधन हासिल कर लेते हैं। चूंकि अमेरिका की राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए यह अधिनियम काफी अहम माना जाता है, इसलिए इसके तहत पेश प्रस्तावों को रोकने में कांग्रेस हिचकिचाती रही है। राष्ट्रपति ट्रंप भी इस रास्ते का इस्तेमाल कर सकते हैं।

जाहिर है, आने वाले दिनों में कुछ मसलों पर अमेरिका में सियासी टकराव बढ़ सकता है, तो कुछ में ट्रंप विशेषाधिकार का इस्तेमाल कर सकते हैं। वहां कांग्रेस खुद को सत्ता का समान हिस्सेदार मानती है, इसलिए उसके पास अपने तईं भी प्रस्ताव पेश करने और उस पर मंजूरी के लिए राष्ट्रपति के पास भेजने का अधिकार है। 'लिंडसे ओ ग्राहम सैंक्शनिंग रूस ऐंड ईरान ऐक्ट ऑफ 2026' भी कांग्रेस ने खुद पारित करके राष्ट्रपति ट्रंप को भेजा था, जिसमें रूस से तेल खरीदने वाले शीर्ष देशों (भारत भी इसमें शामिल है) पर 100 फीसदी तक टैरिफ लगाने का प्रावधान किया गया है। यह अलग बात है कि अमेरिकी राष्ट्रपति ने इसे लागू नहीं किया, अलबत्ता उन्होंने रूस को छूट ही दी और उससे 'डीजल समझौता' किया।

इन सबका अर्थ है कि ट्रंप की नीतियां अमूमन पूर्ववत बनी रहेंगी। वह कह भी रहे हैं कि चुनाव नतीजे उनके खिलाफ नहीं, बल्कि रिपब्लिकन उम्मीदवारों के खिलाफ हैं। हालांकि, अपनी रैलियों में उन्होंने रिपब्लिकन उम्मीदवारों का प्रचार करते हुए यही कहा था कि 'समझो, मैं ही मतपत्र पर हूं।' टेक्सास जैसे राज्य में तो कई उम्मीदवार उनके समर्थन से ही प्राइमरी चुनाव जीतकर आए थे। फिर भी, यदि जनमत के दबाव में वह अपना रुख बदलने को उन्मुख होते हैं, तो इससे विश्व राजनीति पर सकारात्मक असर पड़ सकता है। हो सकता है कि साल 2028 के राष्ट्रपति चुनाव में रिपब्लिकन पार्टी की संभावनाओं को देखते हुए वह पश्चिम एशिया में शांति की राह पर आगे बढ़ना चाहें। अगर ऐसा होता है, तो यह हमारे लिए काफी सुखद होगा, क्योंकि इससे क्षेत्रीय स्थिरता आएगी, जो तेल की कीमतों को कम करने के साथ-साथ हमारी भू-राजनीति को आगे बढ़ा सकती है।

सवाल यह भी है कि अब भारत का रुख अमेरिका के प्रति कैसा रहेगा? डेमोक्रेट मौजूदा हालात में रूस के आलोचक माने जाते हैं, लिहाजा वे यूक्रेन के साथ आगे बढ़ने का दबाव अमेरिकी राष्ट्रपति पर डाल सकते हैं। हालांकि, यह राष्ट्रपति ट्रंप पर निर्भर करेगा कि वह उस दबाव को कितना महत्व देते हैं।

अच्छी बात यह है कि सन् 2000 से भारत के साथ द्विपक्षीय संबंधों को लेकर अमेरिका के दोनों दलों का रुख करीब-करीब सकारात्मक रहा है। यहां तक कि 'ग्राहम ऐक्ट' में भी मूलत: रूस निशाने पर था, भारत नहीं। बीते एक साल से कुछ परेशानी जरूर बढ़ी है, खासतौर से टैरिफ को लेकर, लेकिन आपसी रिश्ते डेमोक्रेट के शासनकाल में भी कमोबेश इसी तरह आगे बढ़े हैं, जिस तरह रिपब्लिकन की सरकार में। इसलिए, भारत को अब दोनों दलों के साथ समान रिश्ता रखते हुए आगे बढ़ना होगा। सुखद है, भारत सरकार राष्ट्रीय हितों से कतई समझौता नहीं करना चाहती। अमेरिका से रिश्ते आगे बढ़ाते हुए वह अपने हितों को ही सर्वोच्च प्राथमिकता देती रही है। तमाम देशों के साथ पूर्ववत स्वतंत्र संबंध आगे बढ़ाए जाते रहेंगे।

फिर, अमेरिका की घरेलू राजनीति में भारतवंशियों का प्रभाव कुछ हद तक बढ़ा है। बेशक, बीते एक-डेढ़ साल में उन पर भी दबाव रहा है, पर सेमीकंडक्टर, रक्षा, एआई जैसे कई क्षेत्रों में दोनों देशों में साझेदारियां बढ़ी हैं। अमेरिकी बाजार में भारतीय उत्पादों, खासकर दवाइयों की इतनी हिस्सेदारी है कि इसको भी नजरंदाज नहीं किया जाएगा। साफ है, अमेरिकी चुनाव नतीजों से भारत को चिंतित होने की आवश्यकता नहीं है।